

Mein Ki Khoj

ॐ श्री परमात्मने नमः

“मैं” की खोज

“मैं” क्या है, “मैं” का स्वरूप

तथा

“मैं” का विवेचन



मानव सेवा संघ के 'जीवनदर्शन' एवं 'मानवदर्शन' ग्रन्थों से उद्धृत

संकलनकर्ता

हरीबाबू अग्रवाल (बाड़ी वाले)

ॐ श्री हरिःशरणम्

शरणागति

हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्

सर्वहितकारी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

नम्र निवेदन

ऐसा अहम् गलै हरि मेरा, जाते सुरस बनै प्रभु तेरा ।

ना मैं ही रहूँ ना मेरा, सब कुछ हो जावे तेरा ॥

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्द जी महाराज के लिखवाये गये ग्रन्थों में से "मैं" अर्थात् अहम् की जानकारी के सम्बन्ध में मुझे जो कुछ मिला है, वही इस "मैं की खोज" नामक पुस्तक में साधकों की सेवा में प्रस्तुत है। आशा है पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे। इसका मूल्य केवल सदुपयोग ही है।

मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी सं० 2058

गीता जयन्ती दि० 26 दिसम्बर 2001

निवेदकः

हरीबाबू

* प्रकाशक :

हरीबाबू अग्रवाल बाडी वाले (साधक)

मानव सेवा संघ आश्रम

पो० वृन्दावन (मथुरा) उ०प्र०

पिन-281 121

* आवृत्ति : प्रथम बार- 5000 पाँच हजार प्रतियाँ

* मूल्य :

Rs 5

विषय सूची

“मैं” क्या है?	3
“मैं” का स्वरूप	7
“मैं” का विवेचन	14
उपसंहार	48

भाषा में शब्दों का संकेत

मैं	=	अहम्
यह	=	संसार, शरीर
वह	=	परमात्मा
नहीं	=	संसार, शरीर
है	=	परमात्मा

* मुद्रक :

शिवहरि प्रिंटिंग प्रेस

राधानिवास, वृन्दावन (मथुरा) उ०प्र०

☎ (0565) 442475

‘मैं’ क्या है ?

जीवन का अध्ययन करने पर मुख्य प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि ‘मैं क्या हूँ’? यद्यपि हम सभी अपने को मानते हैं, क्या वही हमारा अस्तित्व है? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक मान्यता का उद्गम स्थान ‘यह’ के साथ तद्रूप होने में है। ‘यह’ के अर्थ में शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को लेना चाहिये। अतः यदि हम ‘यह’ से, अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से विमुख होकर अपना पता लगायें, तो अपने में किसी मान्यता का आरोप नहीं कर सकते। मान्यता को अस्वीकार करते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। चाहरहित होते ही समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही राग-द्वेष सदा के लिये मिट जाते हैं। राग का अन्त होते ही भोग ‘योग’ में, मृत्यु ‘अमरत्त्व’ में और द्वेष का अन्त होते ही मोह ‘प्रेम’ में विलीन हो जाता है। फिर कर्त्ता, कर्म और फल-ये तीनों मिटकर उसी से अभिन्न हो जाते हैं, जो सभी का सब कुछ है।

यही नहीं, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप होने पर भी ‘मैं’ जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु सिद्ध नहीं होती; क्योंकि शरीर आदि से तद्रूप होने पर तो विश्व का दर्शन होता है। अथवा यों कहो कि शरीर उसी विश्वरूपी सागर की एक बूँद जान पड़ता है, और कुछ नहीं। शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से यही सिद्ध

‘मैं’ की खोज]

[4

होता है कि शरीर से तद्रूपता होने पर भी ‘मैं’ जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अपितु शरीर से तद्रूप होने पर ‘मैं’ का अर्थ समस्त विश्व हो जाता है। फिर व्यक्तिगत मान्यता के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

क्या विश्व के साथ एकता होने वाली मान्यता हमारे जीवन में कुछ अर्थ रखती है? यदि रखती है, तो कहना होगा कि जिस प्रकार हम समस्त विश्व से उपेक्षा-भाव रखते हैं, उसी प्रकार हमें शरीर से भी उपेक्षा रखनी होगी। अथवा जिस प्रकार शरीर के प्रति आत्मीयता रखते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता करनी होगी। शरीर के प्रति उपेक्षा होने पर भी मोह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता होने पर भी सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह सकती। मोह तथा सीमित प्यार का अन्त होते ही अविवेक तथा सब प्रकार के राग का अन्त स्वतः हो जाता है। अविवेक का अन्त होते ही नित्यज्ञान से अभिन्नता और राग का अन्त होते ही नित्ययोग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

अब यदि कोई कहे कि ज्ञान तो इन्द्रिय, बुद्धि आदि में भी है। तो कहना होगा कि इन्द्रियों का ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है, अल्प ज्ञान है और बुद्धि का ज्ञान भी अनन्त ज्ञान नहीं है, सीमित है। इन्द्रिय-ज्ञान से बुद्धि-ज्ञान भले ही विशेष हो; परन्तु अविवेक का अन्त होने पर जिस ज्ञान से अभिन्नता होती है, वह तो अनन्त और नित्य ज्ञान है, सीमित तथा परिवर्तनशील नहीं। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त ज्ञान से ही प्रकाशित है, स्वतन्त्र नहीं है; परन्तु नित्यज्ञान

स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं।

इन्द्रियों का ज्ञान विषयों में आसक्ति और बुद्धि का ज्ञान विषयों से अनासक्ति कराने में हेतु है। अथवा यों कहो कि बुद्धि के ज्ञान से निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो सकती है तथा इन्द्रियों के ज्ञान से भोगों में आसक्ति ही उत्पन्न होती है, और कुछ नहीं; परन्तु नित्य ज्ञान से तो नित्य योग और अमरत्व की प्राप्ति भी होती है। हाँ, इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग स्वार्थ-भाव को त्यागकर विश्व की सेवा करने में है और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग विषयों से विरक्त होने में है। इस दृष्टि से इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान भी अपने-अपने स्थान पर आदरणीय हैं। परन्तु कब तक? जब तक इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग है, विषय-लोलुपता में और बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग है, विवाद में, जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

‘मैं’ और ‘विश्व’ एक है, यह मान्यता भी साधनरूप मान्यता हो सकती है, साध्यरूप नहीं; अर्थात् निर्णयात्मक नहीं। इस साधनरूप मान्यता से हमें सीमित प्यार का अन्त करना है एवं देह के मोह से और उसकी तद्रूपता से रहित होना है। विश्व से एकता स्वीकार करते ही सामूहिक सुख-दुःख अपना सुख-दुःख हो जाता है, जो हृदय में करुणा और प्रसन्नता प्रदान करने में समर्थ है। करुणा भोग-प्रवृत्ति को और प्रसन्नता भोग-वासनाओं को खा लेती है; ऐसा होते ही समस्त कामनाओं का अन्त हो जायेगा। कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता आ जायेगी और गुणों का अभिमान गल जायेगा, जिसके गलते ही परिच्छिन्नता तथा संकीर्णता सदा के लिये मिट जायेगी। उसके

मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जायेगी। फिर सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु नहीं रहेगी, अर्थात् सभी आसक्तियाँ मिटकर उस अनन्त की प्रीति बन जायेंगी। प्रीति तथा आसक्ति में बड़ा अन्तर है। आसक्ति में जड़ता और प्रीति में चिन्मयता होती है। आसक्ति मिट सकती है, पर प्रीति नित्य होती है। आसक्ति का जन्म किसी अविवेकयुक्त प्रवृत्ति से तथा अभ्यास से होता है; परन्तु प्रीति अभ्यासजन्य नहीं है, स्वभाव है, श्रमरहित है, जीवन है। यह अविवेकसिद्ध नहीं है, अपितु विवेकसिद्ध है। आसक्ति की पूर्ति तथा निवृत्ति होती है; परन्तु प्रीति की न पूर्ति होती है, न निवृत्ति। आसक्ति घटती-बढ़ती तथा मिटती है; किन्तु प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यह घटती या मिटती नहीं है। आसक्ति वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में सीमित रहती है; परन्तु प्रीति विभु होती है। आसक्ति बन्धन उत्पन्न करती है और मृत्यु की ओर ले जाती है; परन्तु प्रीति स्वाधीन बनाती है और अमरत्व प्रदान करती है। आसक्ति एक में अनेकता का दर्शन कराती है और प्रीति अनेकता को एकता में विलीन करती है; क्योंकि प्रीति की दृष्टि में प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं रहता।

इस दृष्टि से ‘मैं’ का अर्थ विश्व के साथ एकता अथवा अनन्त से अभिन्नता अथवा अनन्त की प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो ‘मैं’ का अर्थ कुछ नहीं, या सब कुछ है, या केवल प्रीति ही है।

(-मानव सेवा संघ, वृन्दावन के ग्रन्थ “जीवन दर्शन” से साभार)

‘मैं’ का स्वरूप

जीवन का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है कि मैं क्या हूँ ? यह नियम है कि प्रश्न की उत्पत्ति अधूरी जानकारी में ही होती है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, अथवा पूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में प्रश्न की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि ‘मैं क्या हूँ’, इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह जानना विवेकपूर्वक न हो, अपितु विश्वास के आधार पर हो; क्योंकि विवेकपूर्वक जान लेने पर तो निस्संदेहता आ जाती है, फिर प्रश्न की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

विकल्परहित विश्वास ज्ञान न होने पर भी ज्ञान-जैसा प्रतीत होता है। उसी विश्वास के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ‘मैं क्या हूँ? क्योंकि ‘मैं’ की अस्वीकृति किसी को नहीं है। यद्यपि केवल स्वीकृति को ‘मैं’ नहीं कह सकते, तो भी हम स्वीकृति के स्वरूप में अपने को मानते हैं। कभी-कभी तो दृश्य के साथ मिलकर अपने को मान लेते हैं और कभी श्रवण की हुई स्वीकृति को भी ‘मैं’ मान लेते हैं। जब हम दृश्य के साथ मिलकर अपने को मानते हैं, तब कामनाओं का उदय होता है और वे सभी कामनाएँ इन्द्रियजन्य स्वभाव के अनुरूप होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कराने वाली होती हैं। यद्यपि विषय-प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ नहीं होती, अपितु शक्तिहीनता, जड़ता एवं परतंत्रता की अनुभूति होती है। उस अनुभूति के आध

र पर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ‘मैं’ क्या हूँ? अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, चिन्मयता एवं स्वाधीनता की माँग उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से ‘मैं’ का अर्थ हो जाता है, उसकी लालसा, जिसमें जीवन है, सामर्थ्य है, स्वाधीनता है। जब तक भोग प्रवृत्ति के परिणाम की वेदना नहीं होती, तब तक तो ‘मैं’ का अर्थ रहता है, भोगवासनाओं का समूह। यद्यपि भोग-वासनाएँ जिज्ञासा को मिटा नहीं पातीं, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है। उसी स्थिति में प्राणी को कभी भोगवासनाएँ और कभी जिज्ञासा, दोनों ही अपने में प्रतीत होती हैं, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा और भोगवासनाओं का द्वन्द्व रहता है। उस द्वन्द्व का अन्त करने के लिये ही प्राणी अपने को साधक मानता है, अथवा यों कहो कि उसमें साधन की रुचि जाग्रत होती है। साधन की रुचि जाग्रत होने पर सर्वप्रथम ‘मैं’ दृश्य नहीं हूँ, यह विचार उदित होता है। उसका उदय होते ही ‘मैं क्या हूँ?’ यह समस्या सामने आती है।

देह के साथ अपने को मिला लेना ही दृश्य के साथ मिल जाना है, पर उस देह के प्रति भी अनेक मान्यताएँ होती हैं, जो साधन-रूप हैं। जैसे ‘मैं हिन्दुस्तानी हूँ’, अतः हिन्दुस्तान का हास-विकास मेरा हास-विकास है। उसी प्रकार देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्यक्षेत्र के अनुरूप अनेक मान्यताओं के साथ हम अपने को मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओं की भूमि केवल देह है। इस दृष्टि से देह साधन का क्षेत्र है; परन्तु अन्तर यह हो जाता है कि केवल देह के साथ मिले रहने से तो पशुता के समान केवल भोग की ही रुचि उत्पन्न होती है, पर साधनरूप मान्यताओं के साथ मिलने से भोग-प्रवृत्ति में भी एक मर्यादा आती है और उसके साथ-साथ भोग-निवृत्ति की लालसा

भी जाग्रत हो जाती है; क्योंकि भोग-प्रवृत्ति का परिणाम किसी को अभीष्ट नहीं है।

साधनरूप समस्त मान्यताएँ दो भागों में विभाजित हैं। एक भाग तो वह है, जिसमें अपने को सुन्दर बनाने वाली मान्यताएँ हैं और दूसरा वह भाग है, जिसमें दूसरों के अधिकार की रक्षा करने वाली मान्यताएँ हैं। अथवा यों कहो कि अपने को सुन्दर बनाकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से जब राग की निवृत्ति हो जाती है, तब स्वतः समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप हो जाती है। फिर यह प्रश्न कि ‘मैं क्या हूँ?’ हल हो जाता है।

साधनरूप ‘मैं’ यद्यपि तीन भागों में विभाजित है-विषयी, जिज्ञासु तथा भक्त। उनमें से विषयी भाव की मान्यता तो दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती; किंतु जिज्ञासा तथा भक्तभाव की मान्यताएँ दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने में समर्थ हैं। अपने को विषयी मान लेने में उत्कृष्ट भोगों की ही रुचि दृढ़ होती है, जो दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है। दृश्य से सम्बन्ध रहते हुए ‘मैं क्या हूँ?’ यह प्रश्न हल नहीं हो सकता।

ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा परिवर्तनशील जीवन को सुन्दर बनाने का अर्थ यह है कि उस व्यक्तित्व की आवश्यकता समाज को हो जाय और उसे समाज की आवश्यकता न रहे। अथवा यों कहो कि उसकी आवश्यकता को समाज अपनी ही आवश्यकता समझने लगे। यदि समाज की उदारता, सेवा एवं स्नेह के आधार पर व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहा, तो भी यह प्रश्न हल नहीं होगा कि ‘मैं क्या हूँ?’ ‘मैं क्या हूँ?’ इस प्रश्न को वही साधक हल कर सकता है, जो समाज का ऋणी न हो और

समाज की उदारता की दासता में आबद्ध न हो। समाज का ऋणी न रहने पर व्यक्ति का मूल्य समाज से अधिक हो जाता है और समाज की उदारता का भोग न करने पर वह व्यक्तित्व के मोह से रहित हो जाता है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही तीव्र जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो ‘मैं क्या हूँ?’ इस समस्या को हल करने में समर्थ है। जिस काल में जिज्ञासा माने हुए सभी सम्बन्धों को खा लेती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। तब ‘मैं’ नित्य जीवन से अभिन्न हो जाता है।

अनित्य जीवन का और नित्य जीवन का आश्रय बिना लिये ‘मैं’ जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अनित्य जीवन के साथ मिलाने से ‘मैं’ अनेक मान्यताओं के रूप में प्रतीत होता है और मान्यता के अनुरूप ही कर्त्तव्य तथा राग का जन्म होता है। कर्त्तव्य राग-निवृत्ति का साधन है। अतः जिस प्रकार औषधि की आवश्यकता रोग-काल में होती है, आरोग्य-काल में नहीं, उसी प्रकार कर्त्तव्य की प्रेरणा राग-निवृत्ति के लिये ही होती है। राग-रहित होते ही अनित्य जीवन से तो सम्बन्ध टूट जाता है और नित्य जीवन से अभिन्नता हो जाती है; क्योंकि अनित्य जीवन और नित्य जीवन में देश-काल की दूरी नहीं है। अनित्य जीवन की भिन्नता और नित्य जीवन की अभिन्नता के मध्य में ‘मैं’ जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु कभी देखने में नहीं आती। हाँ, यह अवश्य है कि अनित्य जीवन के सम्बन्ध से जो आसक्ति उत्पन्न हो गयी थी, वह नित्य जीवन से अभिन्नता होते ही प्रीति के रूप में बदल जाती है। जिस प्रकार पहले अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति प्रतीत होती थी, उसी प्रकार तब नित्य जीवन और उसकी प्रीति ही रह जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति तो विनाशी है तथा नित्य

जीवन और उसकी प्रीति अविनाशी है। जिज्ञासा के उदय में साधक अकाम होता है और पूर्ति में आप्तकाम हो जाता है, यही वास्तविक जीवन है। अब यदि कोई कहे कि जिज्ञासापूर्ति के लिये साधक को किस साधन की अपेक्षा है? तो कहना होगा कि भोग के परिणाम की अनुभूति के आधार पर तो जिज्ञासा जाग्रत होती है और समस्त दृश्य से विमुख होने पर जिज्ञासा की पूर्ति होती है। समस्त दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त होती है, जो स्वभाव से ही सभी का परम सुहृद् है। अथवा यों कहो कि जो उत्पत्ति, विनाश और देश-काल की दूरी से रहित है, उसी की अहैतुकी कृपा से दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य जिज्ञासा को प्राप्त होती है। अतः दृश्य की विमुखता ही जिज्ञासा की पूर्ति का सुगम और अन्तिम साधन है। जब किसी कारण से जिज्ञासा मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता, तब वही कृपा सद्गुरु के स्वरूप में मूर्तिमान् होकर जिज्ञासा की पूर्ति कर देती है।

जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान जीवन का प्रश्न है, भविष्य का नहीं। अतः जिज्ञासा जाग्रत होने पर जब तक हल न हो जाय, तब तक किसी अन्य प्रवृत्ति का जन्म नहीं होना चाहिये। यदि किसी की जिज्ञासा इतनी सबल तथा स्थायी नहीं है, जो वर्तमान की वस्तु हो, तो ऐसे जिज्ञासाओं को चाहिये कि वे जिज्ञासा को सबल और स्थायी बनाने के लिये निरन्तर इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि को लगाये रखें। उन्हें इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धिज्ञान से विजय प्राप्त करनी होगी। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान को खा लेगा, उसी काल में जिज्ञासा वर्तमान जीवन की वस्तु हो जायेगी। फिर ‘मैं’ क्या हूँ? यह प्रश्न स्वतः हल हो जायेगा। बुद्धि के ज्ञान का अनादर होने पर जिज्ञासा की जागृति नहीं हो

सकती, क्योंकि बुद्धि के ज्ञान के अनादर से इन्द्रिय-ज्ञान का आदर होने लगता है, जो राग को उत्पन्न करने में हेतु है। राग की उत्पत्ति हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों के अधीन, मन इन्द्रियों के अधीन और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है। इससे बेचारा प्राणी जड़ता में आबद्ध हो जाता है; परन्तु बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। उससे जिज्ञासा की पूर्ण जागृति और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर दृश्य के स्वरूप का और अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान हो जाता है, अर्थात् बुद्धि के ज्ञान में कर्त्तव्य का तथा दृश्य के स्वरूप का ज्ञान भी निहित है। जो साधक दृश्य के स्वरूप को भलीभाँति जान लेते हैं, वे रागरहित होकर प्रत्येक दशा में जिज्ञासु हो सकते हैं, अर्थात् उनके लिये कोई प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं रहती। किंतु जो साधक दृश्य के स्वरूप को पूर्णरूप से नहीं जान पाते, वे पहले कर्त्तव्यनिष्ठ होकर पीछे जिज्ञासु होते हैं। जिज्ञासा की जागृति के लिए रागरहित होना अनिवार्य है, चाहे प्रवृत्ति द्वारा हो अथवा दृश्य के वास्तविक स्वरूप को जानकर। जो साधक सरल विश्वास के आधार पर अपने को भक्त मान लेता है, वह स्वभाव से ही समस्त विश्व से सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है और अपने प्रभु से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। उसमें न तो अपना कोई बल रहता है और न किसी प्रकार का संदेह ही रहता है। जिनसे उसने सम्बन्ध स्वीकार किया है, उनके विश्वास और उनकी प्रीति को ही वह अपना जीवन मानता है। देह, गेह आदि किसी से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। वह प्रत्येक कार्य अपने प्रभु के नाते ही स्वीकार करता है। कार्य के अन्त में स्वभाव से ही प्रभु की वह स्मृति उदित

होती है, जो प्रीति के स्वरूप में बदलकर उसे प्रियता से अभिन्न कर देती है।

जिज्ञासु और भक्त में अन्तर केवला इतना है कि जिज्ञासु दृश्य के स्वरूप को जानकर दृश्य से विमुख होता है और भक्त उसे अपना न मानकर। दृश्य से विमुख होने में दोनों समान हैं। जिज्ञासु जानने के पश्चात् किसी की सत्ता स्वीकार करता है और भक्त बिना ही जाने, विश्वास के आधार पर ही अपने प्रभु की सत्ता स्वीकार कर लेता है।

जिज्ञासु जिज्ञासा होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है जिसकी वह जिज्ञासा थी और भक्त भक्ति होकर अपने प्रभु से अभिन्न हो जाता है। जिज्ञासु जिज्ञासापूर्ति होने पर अमरत्व को प्राप्त करता है और भक्त भक्ति होकर अपने प्रेमास्पद के प्रेम को प्राप्त करता है। जिज्ञासु का ‘मैं’ अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का ‘मैं’ प्रेमास्पद का प्रेम हो जाता है।

विषयी का ‘मैं’ एकमात्र विषयों की आसक्ति के रूप में ही प्रतीत होता है, जिज्ञासु का ‘मैं’ अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का ‘मैं’ प्रेम हो जाता है। जो ‘मैं’ विषयों की आसक्ति के रूप में प्रतीत होता है, वह अभावरूप है, क्योंकि विषयासक्ति में जीवन नहीं है। जिज्ञासु का ‘मैं’ जिज्ञासाकाल में केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासा की पूर्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्त का ‘मैं’ आरम्भ में तो प्रभु का विश्वास और प्रभु के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है, पर अन्त में प्रभु का प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। इस दृष्टि से ‘मैं’ अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

(-मानव सेवा संघ के ग्रन्थ ‘जीवन दर्शन’ से साभार)

‘मैं’ का विवेचन

‘मैं’ का भास तथा ‘यह’ की प्रतीति मानव-मात्र को स्वभाव से होती है, पर उसका अर्थ यह नहीं है कि भास-मात्र से ही ‘मैं’ की वास्तविकता का परिचय होता है। ‘मैं’ का भास होने पर भी ‘मैं’ क्या है? यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है। अपने सम्बन्ध में दूसरों के द्वारा जो कुछ सुना है, वह ‘मैं’ की वास्तविकता का परिचय नहीं है। ऐसी दशा में अपने सम्बन्ध में अपना क्या निर्णय है, इसका स्पष्टीकरण करना अनिवार्य है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में ‘मैं’ का भास है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि ‘मैं’ कोई ऐसी वस्तु है, जो अवस्थाओं से विलक्षण है। अवस्थाओं की प्रतीति है और ‘मैं’ का भास है। अवस्थाओं से तादात्म्य रखते हुए ‘मैं’ का बोध सम्भव नहीं है। अवस्थाओं से असंग होने पर ही ‘मैं’ का वास्तविक परिचय सम्भव है। जाग्रत और स्वप्न के सम्बन्ध से मानव अपने को सुखी और दुखी अनुभव करता है। इससे यह विदित होता है कि सुख-दुःख का भोग दृश्य के सम्बन्ध से सिद्ध होता है। सुषुप्ति में सुख-दुःख का भास नहीं है।

इससे यह मानना ही पड़ता है कि प्रतीति अर्थात् दृश्य से असंग होने पर ही ‘मैं’ की वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, अर्थात् जब तक जाग्रत में सुषुप्तिवत् न हो जायँ, तब तक ‘मैं’ के सम्बन्ध में कुछ भी अनुभव सम्भव नहीं है। जाग्रत में सुषुप्तिवत् होने के लिए क्रियाशीलता तथा चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब जिज्ञासा-पूर्ति के लिए वर्तमान कर्तव्यकर्म विधिवत्, फलासक्ति रहित पूरा कर दिया जाय। ऐसा करने से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों का त्याग

करने की सामर्थ्य आ जायगी। आवश्यक संकल्प की पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग उत्पन्न न हो, तब मानव राग-रहित होकर जाग्रत में ही सुषुप्ति का अनुभव कर सकता है। जाग्रत-सुषुप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता और सुषुप्ति के समान दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। जाग्रत में जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तब स्वतः ‘मैं’ क्या हूँ? यह प्रश्न हल हो जाता है। ‘मैं’ का वर्णन किसी करण अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है; कारण, कि यह सब तो दृश्य ही हैं। दृश्य के सहयोग से उसका वर्णन नहीं हो सकता, जिसको दृश्य की प्रतीति है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही अपने द्वारा अपना परिचय होता है। बस, यही ‘मैं’ क्या हूँ? इस प्रश्न को हल करने का उपाय है।

‘यह’ करके जिसको सम्बोधन करते हैं, उसे ‘मैं’ नहीं कह सकते। इस दृष्टि से कोई भी दृश्य ‘मैं’ नहीं है। ‘वह’ करके जिसमें आस्था करते हैं, उसे भी ‘मैं’ कहना भूल है। ‘यह’ और ‘वह’ से विलक्षण ‘मैं’ हो सकता है। यह भी अनुमान मात्र है, अनुभव नहीं। अब विचार यह करना है कि ‘यह’ की ममता तथा ‘तत्त्व’ की जिज्ञासा, क्या ‘यह’ में हो सकती है? कदापि नहीं। ‘यह’ की ममता तथा ‘तत्त्व’ की जिज्ञासा जिसमें है, क्या उसे ‘वह’ कह सकते हैं? नहीं। इस दृष्टि से ‘यह’ और ‘वह’ से रहित ‘मैं’ होना चाहिये। पर अब भी स्पष्ट बोध नहीं हुआ कि ‘मैं’ क्या है? आस्था और बोध में भेद है। आस्था में बोध का आरोप करना ज्ञान नहीं है और बोध में आस्था करना आस्था नहीं है। आस्था उसमें होती है, जिसका बोध नहीं है। अर्थात् सुने हुए में आस्था होती है, जाने हुये में नहीं। जाने हुए में न तो आस्था ही होती है और न सन्देह ही। सन्देह देखे हुए में होता है, बोध जाने हुए का होता है और आस्था सुने हुए में होती है। ‘मैं’ देखा हुआ नहीं है और न जाना हुआ है। अतः ‘मैं’ के प्रति सन्देह

भी नहीं होता और उसका बोध भी नहीं। ‘मैं’ किसी अन्य के द्वारा सुना भी नहीं है, उसका तो भास है। इस दृष्टि से किसी आस्था के आधार पर ‘मैं’ का निर्णय देना ‘मैं’ का वास्तविक परिचय नहीं है और प्रतीति का आश्रय लेकर ‘मैं’ का विवेचन करना ‘मैं’ का बोध नहीं है। ‘मैं’ के ही द्वारा ‘मैं’ की खोज करना, ‘मैं’ के परिचय में हेतु है।

प्रतीत होने वाला ‘यह’ और सुना हुआ ‘वह’, इन दोनों का सम्बन्ध किसमें है? जिसमें है, क्या उसे ‘मैं’ नहीं कह सकते? परन्तु ऐसा कहने से भी तो ‘मैं’ के कार्य का परिचय होता है, स्वरूप का नहीं। कार्य कर्ता का विशेषण भले ही हो, पर स्वरूप नहीं है। ‘यह’ की प्रतीति में ‘यह’ का राग हेतु है और ‘वह’ की आस्था में ‘वह’ की माँग हेतु है। राग-रहित होने पर ‘यह’ से असंगता स्वतः होती है, जिसके होते ही ‘वह’ से अभिन्नता भी होती है। जिसने रागपूर्वक ‘यह’ से तादात्म्य स्वीकार किया था, उसी ने असंगतापूर्वक ‘वह’ से अभिन्नता प्राप्त की। ‘यह’ की आसक्ति और ‘वह’ की अनुरक्ति किसी एक ही में है। क्या उसी का नाम ‘मैं’ है? यदि यह मान लिया जाय, तो आसक्ति की तो निवृत्ति होती है और अनुरक्ति की जाग्रति। आसक्ति रहते हुए अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती और अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति नहीं रहती। आसक्ति के रहते हुए अनुरक्ति की माँग भले ही रहे, पर अनुरक्ति जाग्रत नहीं होती। अनुरक्ति जाग्रत होने पर आसक्ति का लेश भी नहीं रहता, अर्थात् आसक्ति के अभाव में ही अनुरक्ति की जाग्रति है। क्या अनुरक्ति आसक्ति के समान नाशवान है? क्या अनुरक्ति में भी आसक्ति के समान पराधीनता, जड़ता तथा अभाव है? कदापि नहीं। अनुरक्ति अविनाशी है और जड़ता, पराधीनता, अभाव से रहित है। आसक्ति का परिणाम किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। इस कारण आसक्ति के नाश का प्रश्न मानव-मात्र में है। आसक्ति का मूल, दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार कर, उसमें सत्यता तथा सुन्दरता का आरोप करना है। दृश्य में सत्यता तथा

सुन्दरता का आरोप करना अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय होते ही दृश्य में सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर आसक्ति विरक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

आसक्ति दृश्य की रुचि को जीवित रखती है और विरक्ति दृश्य से अरुचि उत्पन्न करती है। अरुचि रुचि को खाकर स्वतः अनुरक्ति से अभिन्न कर देती है। रुचि और अरुचि द्वन्द्वात्मक स्थिति है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को भस्मी-भूत कर स्वतः शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विरक्ति आसक्ति का अत्यन्त अभाव कर स्वयं अनुरक्ति से अभिन्न हो जाती है। अनुरक्ति द्वन्द्वात्मक नहीं है। द्वन्द्वात्मक स्थिति ही सीमित अहम् भाव को जीवित रखती है, जिसके रहते हुए यह समस्या हल नहीं होती कि ‘मैं’ क्या है? अनुरक्ति के प्रादुर्भाव में ही द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश है, जिसके होते ही ‘मैं’ क्या है? यह प्रश्न स्वतः हल हो जाता है। ‘यह’ से परे ‘मैं’ है-यह ‘मैं’ का परिचय नहीं है। ‘मैं’ के प्रति इतना मोह हो गया है कि उसको अस्वीकार करना बड़ा ही भय उत्पन्न करता है। इस भय से बचने के लिए मानव यह स्वीकार कर लेता है कि ‘मैं शरीर आदि दृश्य से अतीत हूँ।’

किसी की वास्तविकता का बोध तभी सम्भव होगा, जब उसके प्रति राग तथा द्वेष लेश-मात्र भी न हो। ‘मैं’ के न होने की बात सुनकर जो भय उत्पन्न होता है, यह ‘मैं’ का राग है और इस प्रश्न को हल किये बिना चैन से रहना, ‘मैं’ के प्रति द्वेष है। राग और द्वेष दोनों ही सम्बन्ध पुष्ट करते हैं। सम्बन्ध के रहते हुए बोध सम्भव नहीं है। कारण, कि सम्बन्ध स्वयं अस्तित्व के रूप में भासित होने लगता है। इसी कारण ‘यह’ के सम्बन्ध से ‘मैं’ ‘यह’ जैसा प्रतीत होता है और ‘मैं’ अपने में ‘यह’ की आसक्ति अनुभव करता है। और ‘वह’ से सम्बन्ध स्वीकार करने पर ‘मैं’, ‘वह’ जैसा तथा ‘वह’ की अनुरक्ति अनुभव करता है। ‘यह’ और ‘वह’, दोनों में यदि एकता स्वीकार की जाय, तो दो स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकते। ‘यह’ के

अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय, तो स्वीकृति के कारण ‘यह’ की प्रतीति भले ही हो, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसका न तो स्वतन्त्र अस्तित्व ही होता है और न वह अपने को अपने आप प्रकाशित ही करता है। इस दृष्टि से ‘यह’ के अस्तित्व को स्वीकार करना ‘यह’ की आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आसक्ति जीवन नहीं है, अपितु पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की जननी है, जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अतः ‘यह’ की सत्ता स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यदि आस्था के आधार पर ‘वह’ की सत्ता स्वीकार कर ली जाय, तो ‘यह’ की आसक्ति का अन्त होते ही ‘वह’ की अनुरक्ति स्वतः जाग्रत होती है। आसक्ति और अनुरक्ति में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता को जन्म देती है और अनुरक्ति जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस-रूप होती है। इस दृष्टि से अनुरक्ति का बड़ा ही महत्त्व है। आसक्ति का अत्यन्त अभाव बिना हुए अनुरक्ति के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। इस कारण आसक्ति का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र विरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति घृणा नहीं है, अपितु पराधीनता का अन्त करने में साधनरूप है। इस दृष्टि से विरक्तिपूर्वक ही अनुरक्ति प्राप्त होती है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति-इनसे जिसका सम्बन्ध है वह ‘यह’ और ‘वह’ से रहित है। संकेत भाषा में आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति ‘मैं’ का कार्य है, ‘मैं’ नहीं; कारण, कि आसक्ति और विरक्ति दोनों ही अनुरक्ति से अभिन्न होती हैं। अनुरक्ति ने उससे भिन्न का अनुभव ही नहीं किया, जिसकी वह अनुरक्ति है। अतः ‘मैं’ अनुरक्ति से अभिन्न हो, अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार ‘मैं’ आसक्ति से युक्त होकर पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध होता है, उसी प्रकार ‘मैं’ विरक्ति से अभिन्न होकर अपने ही में सन्तुष्ट होता है और अनुरक्ति से अभिन्न होने पर ‘मैं’ अनन्त को रस प्रदान करता है। इस दृष्टि से ‘मैं’ के सम्बन्ध में जितना कहा,

जाय, कम है, जो ‘कुछ नहीं’ होकर ‘सब कुछ’ है और ‘सब कुछ’ होकर ‘कुछ नहीं’ है। यही ‘मैं’ की विलक्षणता है।

यह नियम है कि जो, कुछ नहीं होता, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की सीमा, नाप-तौल नहीं है, वह सभी से अभिन्न हो सकता है और उसमें सभी की स्थापना हो सकती है। इसी कारण अहम् में शरीर-भाव, जीव-भाव, ब्रह्म-भाव आदि की स्थापना हो सकती है; क्योंकि यदि ‘मैं’ कोई ऐसा पदार्थ होता, जिसका विवेचन बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव होता, तो उसमें किसी और की स्थापना सम्भव न होती। किन्तु अहम् में ही जगत् का बीज, तत्त्व की जिज्ञासा और अनन्त की प्रियता विद्यमान है। ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त होने पर अहम् में जगत् का बीज शेष नहीं रहता, अर्थात् अहम् का दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता। इतना ही नहीं, दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है और फिर तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रीति की जाग्रति स्वतः हो जाती है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। दूरी के नाश में ही योग की और भेद के नाश में ही बोध की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से योग, बोध और प्रेम अहम् के ही रूपान्तर हैं। अर्थात् अहम् योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है। अहम् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु ममता, जिज्ञासा एवं आस्था की स्वीकृति जिसमें भासित होती है वही अहम् है।

ममता का नाश, जिज्ञासा की पूर्ति और आस्था में आत्मीयता होने पर एक-मात्र प्रेम-तत्त्व ही शेष रहता है। प्रीति में अस्तित्व उसी का है, जिसकी वह प्रीति है। प्रीति सतत् गतिशील तत्त्व है; ‘यह’ की ओर गति होने पर आसक्ति के रूप में भासती है, ‘यह’ से विमुख होने पर विरक्ति तथा ‘वह’ की ओर गतिशील होने पर अनुरक्ति होती है। यदि प्रतीति का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो आसक्ति विरक्ति में परिणत न होती और यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता न होती, तो विरक्ति अनुरक्ति में परिणत न होती। पर मानव-दर्शन से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति विरक्ति में और विरक्ति अनुरक्ति में परिणत

होती है। सर्वाश में आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति का भास होता है और विरक्ति की पूर्णता होते ही अनुरक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आसक्ति, विरक्ति और अनुरक्ति उसी समय तक अलग-अलग प्रतीत होती हैं, जिस समय तक सर्वाश में आसक्ति का नाश नहीं होता। पराधीनताजनित वेदना आसक्ति के नाश में हेतु है।

आसक्ति का नाश होते ही विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वाधीनता की जननी है। विरक्ति की पूर्णता स्वाधीनता-जनित रस में सन्तुष्ट नहीं रहने देती। बस, उसी काल में विरक्ति स्वतः अनन्त की अनुरक्ति हो, अनन्त को रस प्रदान करती है। आसक्ति सुख-लोलुपता और विरक्ति स्वाधीनता में परिणत होती है। किन्तु स्वाधीनता-जनित रस अखण्ड होने पर भी नित-नव नहीं है।

नित-नव रस की भूख ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाधीनता-जनित रस से असंगता होती जाती है। असंगता की पूर्णता स्वतः प्रीति में परिणत होती है। इस दृष्टि से मानव की पूर्णता एकमात्र प्रीति से अभिन्न होने में ही है। आसक्ति का नाश होते ही शान्ति, शक्ति, मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है। किन्तु शक्ति, मुक्ति आदि का आश्रय अहम् को परिच्छिन्नता के रूप में जीवित रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता और उसके नाश हुए बिना नित-नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। यद्यपि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय हैं, पर प्रियता का रस ऐसा विलक्षण है कि उसके लिए स्वाधीनता आदि का न्यौछावर करना सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। अशान्ति की व्यथा मिटाने में शान्ति और असमर्थता की वेदना को मिटाने में शक्ति एवं पराधीनता की पीड़ा के नाश में स्वाधीनता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। मानव बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि से अपने को अशान्ति, असमर्थता एवं पराधीनता में आबद्ध पाता है। इस कारण शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता को महत्त्व देता है। वास्तव में तो शान्ति,

सामर्थ्य और स्वाधीनता स्वतः प्रीति में परिणत होती है; कारण, कि शान्ति, शक्ति और स्वाधीनता में ‘निज-रस’ है। निज-रस में सन्तुष्ट हो जाना, अपनेपन को जीवित रखना है। अपनापन कितना ही महान् क्यों न हो, किन्तु उसमें किसी न किसी रूप में परिच्छिन्नता रहती है। जो यह अनुभव करता था कि ‘मैं अशान्त हूँ’, ‘मैं असमर्थ हूँ’, पराधीन हूँ’, वही अनुभव करता है कि ‘मैं शान्त हूँ’, ‘समर्थ हूँ’, ‘स्वाधीन हूँ’। पराधीनता आदि दोषों की अपेक्षा स्वाधीनता आदि बड़े ही महत्त्व की वस्तुएँ हैं, परन्तु ‘मैं’ स्वाधीन हूँ’, इस प्रकार की सीमा तो रहती ही है। परिच्छिन्नता रहते हुए किसी न किसी प्रकार की माँग रहती ही है, जिसके रहते हुए पूर्णता कैसी? प्रीति का प्रादुर्भाव होने पर माँग का अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव की पूर्णता है। यह मानव का अपना दर्शन है।

अपने में ब्रह्मभाव की स्थापना साधन-रूप है; किन्तु क्या ब्रह्म ने ब्रह्मभाव की स्थापना की? यह भ्रम है कि ‘मैं’ पहले ब्रह्म था, अब नहीं हूँ; किन्तु जब मुझे किसी ने स्मरण दिलाया, तब मुझे यह अनुभव हुआ कि ‘मैं ब्रह्म हूँ’। तो क्या ब्रह्म में ब्रह्म की विस्मृति हुई और फिर ब्रह्म ने ही मुझसे भिन्न होकर मुझे ब्रह्म की स्मृति दिलाई? यदि ब्रह्म का यह अपमान अभीष्ट है, तब तो यह मानना उचित ही है कि मैं ब्रह्म हूँ, पर भूल से अपने को जीव मानता था। माया और अविद्या ने मुझे भुला दिया, अर्थात् माया और अविद्या ब्रह्म से सबल हो गईं। ‘मैं’ क्या हूँ? इसका उत्तर आस्था के आधार पर देना दर्शन नहीं है। दर्शन में आस्था अपेक्षित नहीं है। दर्शन का प्रादुर्भाव सन्देह की वेदना से होता है। सन्देह की वेदना जिसमें होती है, वह मानव है और उसी में आसक्ति, जिज्ञासा तथा आस्था है। आसक्ति प्रमाद-जनित है। इस कारण उसका नाश होता है और जिज्ञासा की पूर्ति विचार-सिद्ध है, इस कारण उसकी पूर्ति होती है। सन्देह की वेदना को देख, जिज्ञासा की पूर्ति के लिए विचार के स्वरूप में किसी की अहैतुकी कृपा अवतरित होती है, जो अविचार

का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान कर स्वतः विलीन हो जाती है। निस्सन्देहता की प्राप्ति में ही दर्शन की पूर्णता है। निस्सन्देहता स्वतः प्रीति प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है। सन्देह के रहते हुए प्रीति जाग्रत नहीं होती। सन्देह अपनी ही भूल से होता है। भूल अविवेक सिद्ध है। अतः जाने हुए का अनादर करने से भूल उत्पन्न होती है। मानव-दर्शन यह प्रेरणा देता है कि अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अपना लेना अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभाव न तो प्रतीत होने वाले दृश्य में अहम्-बुद्धि को जन्म देता है और न स्वीकृतियों में ही अहम्-बुद्धि होने देता है। जाने हुए का प्रभाव प्रतीति से असंग कर, जो ‘है’ उससे अभिन्न करता है। अभिन्नता में ही अगाध, अनन्त प्रियता है। प्रतीति की आसक्ति जिसमें भासित है उसी में अगाध प्रियता की माँग है। आसक्ति के नाश में माँग की पूर्ति स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही ‘मैं’ का वास्तविक स्वरूप है। प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा है और विवेकात्मक रूप त्याग है, अर्थात् स्थान भेद से प्रीति ही सेवा, त्याग तथा प्रेम के रूप में है। सेवा जगत् के लिए, त्याग अपने लिए एवं प्रेम अनन्त के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से मानव-दर्शन में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

अनन्त से अभेद-भाव स्वीकार करने पर भी अनन्त की प्रियता ही वास्तविक एकता प्रदान करती है। प्रतीति से असंगता विचार-साध्य है। सन्देह की वेदना से विचार स्वतः अवतरित होता है। ‘यह’ जिसकी कृपा है, ‘मैं’ उसी की प्रीति है और उसी की स्वतन्त्र सत्ता है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उसी में आस्था करनी है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उस पर विचार करना है। प्रतीति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतः उस पर विचार करना है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य का अन्त कर दिया जाय। ममता के नाश से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निष्कामता असंगता की जननी है और असंगता से तादात्म्य स्वतः नष्ट

होता है, जिसके होते ही असत् की निवृत्ति एवं सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

जिसका बोध नहीं है, अपितु सुना है, उसकी आस्था यद्यपि दर्शन नहीं है, परन्तु साधन रूप अवश्य है। जो जाना हुआ नहीं है उसी से आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक भेद अथवा अभेद भाव से सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति बोध प्राप्ति तथा प्रियता प्रदान करती है। विस्मृति से दूरी, भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है। सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्मृति उदित होती है और विस्मृति नष्ट होती है। प्रतीतिजनित सुख-लोलुपता के रहते हुए ‘है’ से सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नहीं है; कारण, कि ‘नहीं’ में ‘है’-बुद्धि स्वीकार करने से ही, ‘है’ से विमुखता होती है। ‘नहीं’ को ‘नहीं’ जान लेने पर ‘नहीं’ की निवृत्ति और ‘है’ में आत्मीयता बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाग्रत होती है, जो स्मृति में हेतु है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक की हुई स्वीकृति साधन-रूप होने से मान्य है। किन्तु उसे बोध मानना आस्था को ही बोध कहना है। बोध किसी की अपेक्षा से नहीं होता; कारण, कि बोध जिसका होता है और जिसे होता है, उसमें भेद नहीं रहता, अर्थात् बोध के लिए जाने हुए का आदर ही एकमात्र सहयोगी साधन है।

मानव में बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा देखे हुए का प्रभाव अंकित है। उस प्रभाव के रहते हुए सुने हुए में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। अतः जाने हुए के प्रभाव से जब देखे हुए का प्रभाव नाश हो जाता है, तब स्वभाव से ही निर्ममता, निष्कामता एवं असङ्गता आ जाती है जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में ही दर्शन निहित है।

जिस प्रवृत्ति तथा स्वीकृति के मूल में दार्शनिक भित्ति नहीं होती, वह प्रवृत्ति तथा स्वीकृति साधन-रूप नहीं है। अतः प्रत्येक मानव को निज-विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करना अनिवार्य है कि प्रवृत्तियों तथा स्वीकृतियों के मूल में जाने हुए का अनादर तो

नहीं है। जाने हुए का अनादर करने पर वास्तविकता से परिचित होना सम्भव नहीं है, जिसके बिना हुए निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति नहीं होती। सन्देह-युक्त दशा में मानव न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर पाता है और न परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न ही होता है। इस कारण निस्सन्देहता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब किसी भी प्रकार जाने हुए का अनादर न किया जाय। जाने हुए के प्रभाव में ही निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

देखा हुआ यद्यपि ज्ञान जैसा प्रतीत होता है, परन्तु वह ज्ञान नहीं है; कारण, कि देखने में करण की अपेक्षा होता है। किसी करण द्वारा ‘मैं’ का बोध नहीं होता। करण के द्वारा तो केवल ‘यह’ के सम्बन्ध में ही खोज होती है। ‘मैं’ का अनुभव करने के लिए ‘यह’ से असहयोग करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता से ही साध्य है। निर्ममता, निष्कामता किसी प्रवृत्ति से साध्य नहीं है; कारण, कि प्रत्येक प्रवृत्ति मिले हुए के सहयोग से ही सम्भव है। जिससे निर्मम तथा निष्काम होना है, उसके सहयोग का त्याग आवश्यक है। इस दृष्टि से निर्ममता तथा निष्कामता विचार से ही साध्य है। विचार-पूर्वक ममता तथा कामनाओं का त्याग करने पर असङ्गता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही तादात्म्य का अन्त हो जाता है। तादात्म्य के नाश में ही वास्तविक बोध की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण बोध विचार से ही साध्य है, आस्था से नहीं। आस्था स्वयं स्वतंत्र पथ है, उसके लिए विचार अपेक्षित नहीं है और विचार स्वतंत्र पथ है, उसके लिए आस्था अपेक्षित नहीं है। इन दोनों का मिलाप दोनों की वास्तविकता से अपरिचित होना है। विचार असत् की निवृत्ति में हेतु है; कारण, कि असत् की प्रतीति अविचार-सिद्ध है। विचार का उदय अविचार का अन्त कर स्वतः अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से विचार वास्तविकता के बोध के लिए साधन-रूप है। बोध होने पर अविचार की उत्पत्ति

नहीं होती और विचार का भास नहीं होता। विचार का भास अविचार के रहते हुए ही है। ‘मैं’ विचारक हूँ, यह भास अविचार काल में ही है। वास्तव में तो ‘मैं’-रहित विचार ही विचार है, जो अविचार का अन्त करने में समर्थ है। श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करने पर तो एकमात्र प्रियता ही शेष रहती है। परन्तु मुझमें आस्था है, यह भास तभी तक होता है, जब तक प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

आत्मीयता की प्राप्ति के लिए आस्था, श्रद्धा, विश्वास साधन-रूप हैं। आत्मीयता में ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास विलीन हो जाते हैं और आत्मीयता अगाध प्रियता में। जब तक आस्था श्रद्धा में, श्रद्धा विश्वास में और विश्वास आत्मीयता में एवं आत्मीयता प्रियता में परिणत नहीं होती, तब तक यह भास होता है कि मुझमें आस्था है; मैं विश्वास पथ का साधक हूँ। परन्तु जब प्रियता से भिन्न कुछ नहीं रहता, तब मुझमें प्रेम है, यह भास भी नहीं होता। पर प्रेम है-यही शेष रहता है। बोध और प्रेम, इन दोनों में स्वरूप की एकता है, किन्तु रस में भेद है। बोध का रस अखण्ड और प्रेम का अनन्त है। जीवन की माँग अनन्त रस की है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। साधन-रूप प्रेम बोध में विलीन होता है। साध्य-रूप बोध और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः बोध में प्रेम और प्रेम में बोध ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था से प्रियता और विचार से बोध प्राप्त किया है। साधन की ममता भी साधन में आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधन की आसक्ति अन्य साधन की विरोधी है। इस दृष्टि से साधन जीवन हो, किन्तु साधन की आसक्ति न हो। साधन की आसक्ति का नाश एकमात्र वास्तविकता से परिचित होने में ही निहित है। इस कारण मानव-दर्शन का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

अपना वास्तविक परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। पराश्रय

का त्याग होने पर अपने द्वारा अपना परिचय स्वतः हो जाता है। पराश्रय से तादात्म्य होने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनाओं की उत्पत्ति प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है और फिर मानव ‘अपने’ को अथवा ‘पर’ को वास्तविक रूप से जान नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि देखे हुए में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्वलित होती है, जो किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। इस दृष्टि से पराश्रय के त्याग में ही वास्तविकता का बोध सम्भव है। पराश्रय का त्याग तभी सम्भव होगा, जब पराधीनताजनित सुख-लोलुपता का अन्त कर दिया जाय और पराधीनता असह्य हो जाय, अर्थात् स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार न रह सके। स्वाधीनता की उत्कट लालसा स्वतः निर्ममता, निष्कामता प्रदान करती है। निष्कामता-जनित शान्ति में और निर्ममता-जनित निर्विकारता में भी आबद्ध नहीं होना है, अर्थात् शान्ति में रमण नहीं करना है और न व्यक्तिगत गुणों का भोग करना है। शान्ति में रमण तथा गुणों का भोग न करने से स्वतः स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। यद्यपि शान्ति बड़ी ही मधुर है, परन्तु उसमें रमण करने से असङ्गता प्राप्त नहीं होती और असङ्गता के बिना वास्तविकता से अभिन्नता सम्भव नहीं है। निर्विकारता के समान और कोई सौन्दर्य नहीं है, किन्तु निर्विकारता को अपने में आरोप करने से व्यक्तित्व का मोह पोषित होता है, जो असीम अनन्त जीवन से अभिन्न नहीं होने देता। यद्यपि सुन्दर व्यक्तित्व की माँग सभी को रहती है, परन्तु व्यक्तित्व का अभिमान भेद तथा भिन्नता उत्पन्न करता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से पराश्रय का त्याग वही कर सकता है, जिसने अपने को शान्ति तथा निर्विकारता से असङ्ग करने का प्रयास किया है। असंगता सीमित, परिवर्तनशील, सौन्दर्य से आकर्षित न होने पर ही सम्भव होती है, अर्थात् अनन्त-नित्य सौन्दर्य की उत्कट लालसा में ही असंगता निहित है। असंगता प्राप्त करने के लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की लेश-मात्र भी

अपेक्षा नहीं है; अपितु इनसे असहयोग करने पर अपने आप अपने में असंगता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक असंग हो सकता है और असंगता ही एकमात्र अपने वास्तविक परिचय में समर्थ है। असत् से असंग होने पर ही असत् का परिचय तथा उसकी निवृत्ति एवं सत् से अभिन्नता होती है। स्वाधीनता की तीव्र लालसा असत् के संग-जनित कामनाओं को नाश कर देती है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असत् की असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जाग्रति में ही अपना वास्तविक परिचय निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने अपने सम्बन्ध में अपने ही द्वारा खोज की है। अपने द्वारा अपनी खोज न करने के समान और कोई असावधानी नहीं है। असावधानी बनाये रखना अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान करना है। अतः ‘मैं’ क्या हूँ? इस सम्बन्ध में अपने ही को खोज करना है। ‘मैं’ की खोज करने में जब प्राप्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि निकटवर्ती ही समर्थ नहीं हैं, तो फिर किसी अन्य के द्वारा ‘मैं’ की खोज हो सकती है, ऐसा सोचने के समान और कोई भूल नहीं है।

‘पर’ के द्वारा ‘स्व’ का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। ‘स्व’ के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। ‘पर’ से विमुख होते ही ‘स्व’ के द्वारा ‘स्व’ की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। ‘पर’ के सहयोग से एकमात्र ‘पर’ के सम्बन्ध में ही प्रयास हो सकता है। इन्द्रिय-जन्य प्रतीति पर बुद्धि-जन्य दृष्टि का प्रभाव हो सकता है; किन्तु ‘स्व’ की ओर गतिशील होते ही बेचारी बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही स्वयं ‘स्व’ में विचार का उदय होता है, जो ‘मैं’ की वास्तविकता के परिचय में हेतु है। बुद्धि-दृष्टि का प्रयोग एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव के नाश में है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही दृश्य की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नहीं रहती और फिर इन्द्रिय-दृष्टि स्वतः मन में और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि

में विलीन होता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि की समता यद्यपि सामर्थ्य की प्रतीक है; कारण, कि बुद्धि के सम होने पर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु बुद्धि बेचारी ‘स्व’ के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती, इस कारण अपना परिचय अपने ही द्वारा सम्भव है। ‘पर’ के द्वारा अपने सम्बन्ध में अनेक स्वीकृतियाँ स्वीकार कीं और प्रत्येक स्वीकृति ने किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति को जन्म दिया। यह सभी को मान्य होगा कि प्रवृत्ति में प्रवृत्ति-जनित सुख-लोलुपता की दासता और परिणाम में अभाव ही सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से प्रवृत्ति द्वारा न तो मानव अपने को ही जान सका और न पराधीनता, अभाव एवं असमर्थता से बचना कुछ पा सका। इस दृष्टि से स्वीकृति ‘स्वरूप’ नहीं है, अपितु किसी न किसी प्रवृत्ति की जननी है।

स्वीकृतियों में सन्देह होने पर ही जिज्ञासा की जाग्रति होती है। जिज्ञासा की जाग्रति समस्त स्वीकृतियों का अन्त कर सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वतः ‘स्व’ में ही विचार का उदय होता है, जो जिज्ञासा-पूर्ति में समर्थ है।

जो स्वीकृतियाँ प्रतीति, अर्थात् दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती हैं वे या तो काम की जननी हैं अथवा कर्त्तव्य की प्रतीक हैं। कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। किन्तु यदि ‘पर’ से सुख की आशा की, तो पुनः नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली स्वीकृतियों का कर्त्तव्य-निष्ठ होकर अन्त करना अनिवार्य है। अपने को शरीर मानने वाली स्वीकृति काम की जननी है। अतः अपने में से देह-भाव का अन्त कर निष्काम होना अनिवार्य है। निष्काम बिना हुए ‘पर’ से सुख की आशा का नाश नहीं होता और उसका नाश हुए बिना नवीन राग की निवृत्ति नहीं होती। राग-रहित होने पर ही स्वीकृतियों से रहित होने की सामर्थ्य आती है, अर्थात् स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि नहीं रहती। राग ही एकमात्र स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि जीवित रखता है। राग भूल से

उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से स्वीकृतियों में अहम्-बुद्धि भूल है। भूल-जनित वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जाग्रति भूल-जनित सुख-लोलुपता के मिटाने में समर्थ है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा स्वतः तीव्र हो जाती है। तीव्र जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जिज्ञासा-पूर्ति में काल अपेक्षित नहीं है।

जब तक सर्वांश में जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती, तभी तक वास्तविकता से अभिन्न होने में भविष्य की आशा रहती है। वास्तविकता के परिचय के लिए भविष्य की आशा जिज्ञासा को शिथिल करती है। जिज्ञासा की शिथिलता जिज्ञासापूर्ति में विघ्न है। जिज्ञासा जो ‘है’ उसका बोध कराती है, किसी अप्राप्त की प्राप्ति में हेतु नहीं है। जो प्राप्त है, उसके परिचय के लिए, क्या भविष्य की आशा भारी भूल नहीं है? अवश्य है। ‘है’ का परिचय किसी श्रम से भी साध्य नहीं है; कारण, कि श्रम के द्वारा उसी को जाना जाता है, जिससे देश, काल आदि की दूरी हो। जो देश, काल आदि की दूरी से रहित है, उसका परिचय श्रम-रहित होने पर ही सम्भव है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम भले ही अपेक्षित हो, किन्तु वास्तविकता से परिचित होने के लिए श्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तीव्र जिज्ञासा से जब कामनाओं का नाश हो जाता है, तब स्वतः मानव श्रम-रहित होता है। विश्राम की भूमि में स्वतः विचार का अवतरण होता है, जो वास्तविकता के बोध में समर्थ है।

श्रम-रहित होने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु सहज निवृत्ति है। यह सभी को मान्य है कि प्रवृत्ति से सामर्थ्य का व्यय और निवृत्ति से सामर्थ्य का सम्पादन होता है। अतः श्रम-रहित होते ही सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। कामनाओं के रहते हुए प्राप्त सामर्थ्य की गति दृश्य की ओर होती है और निष्काम होते ही गति ‘स्व’ की ओर होती है, जो ‘स्व’ के बोध में हेतु है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त दृश्य को ‘मैं’

नहीं कह सकते; कारण, कि जिसको ‘यह’ कहकर जानते तथा सम्बोधन करते हैं, उसको ‘मैं’ मान लेना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसे न तो इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा है और न अपने द्वारा अनुभव किया है, अपितु सुना है, उसको भी ‘मैं’ नहीं कह सकते। अर्थात् सुना हुआ आत्मा और परमात्मा तथा देखा हुआ शरीर और जगत्, इन दोनों को ही ‘मैं’ नहीं कह सकते। पर अपने में शरीर आदि की ममता, आत्मा की जिज्ञासा एवं परमात्मा की लालसा अवश्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ‘मैं’ न तो पर-प्रकाश्य जड़ है और न चेतन। पर यह ऐसा विलक्षण है कि जिससे मिला दो, उस-जैसा ही प्रतीत होने लगता है। किसी की वास्तविकता को जानने के लिए उसे सभी से अलग करना अनिवार्य है। अतः अपने को यदि जड़, चेतन से न मिलाया जाय, तभी अपना वास्तविक परिचय हो सकता है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के त्याग से जड़ से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जड़ से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ‘मैं’ जड़ नहीं हूँ-यह अनुभव स्वतः हो जाता है, पर ‘मैं’ क्या हूँ?, यह स्पष्ट नहीं होता। इस दशा में मानव अधीर होकर श्रवण के आधार पर अपने को आत्मा, ब्रह्म आदि मान लेता है। अविचल आस्था होने से यह अनुभव होता है कि यह मेरा ज्ञान है। एक बार मान लेने पर भी बार-बार मनन करना इस कारण अपेक्षित हो जाता है कि कहीं पूर्व स्वीकृति पुनः न आ जाय। अब विचार यह करना है कि सुने हुए का मनन, क्या आस्था की दृढ़ता के अतिरिक्त कुछ और है? अर्थात् कुछ नहीं। जो आस्था से साध्य है, क्या वह बोध है? यदि बोध है, तो आत्मा ने अपने में अनात्म-भाव को क्यों स्वीकार किया? क्या चिन्मय तत्त्व में भी विस्मृति का दोष हो सकता है? यदि हो सकता है, तो चिन्मय कैसा? पर अपने से अपने को इतना मोह हो गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि मैं जड़ नहीं हूँ, तो चेतन हूँ। चेतन सदैव चेतन है, और जड़ सदैव जड़ है। जड़ और चेतन का मिलन सम्भव नहीं है; कारण, कि दो विरोधी सत्तायें आपस में कभी

नहीं मिलतीं। अतः यह मान लेना भी भ्रममूलक ही है कि जड़-चेतन के मिलने से ऐसी जो चीज उत्पन्न हुई, जो न जड़ है और न चेतन, वही ‘मैं’ है।

जब जड़-चेतन का मिलन ही नहीं है, तब उसके मिलने से जो उत्पन्न हुआ वह ‘मैं’ है, यह भी भूल ही है। ‘मैं’ जड़ नहीं है, यह विवेक-सिद्ध है। ‘मैं’ चेतन है, यह आस्थापूर्वक भले ही मान लिया जाय, पर बोध नहीं है। किसी का बोध किसी की आस्था हो सकती है, पर यह विचार-पथ नहीं है। विचार-पथ की दृष्टि से ‘मैं’ का अर्थ न तो देखा हुआ ‘यह’ है और न सुना हुआ ‘वह’। ‘यह’ की आसक्ति और तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रियता जिसमें है, वही ‘मैं’ है। आसक्ति का नाश तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर एकमात्र अगाध प्रियता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से ‘मैं’ का वास्तविक स्वरूप एकमात्र अगाध, अनन्त नितनव प्रियता है।

‘मैं’ की अन्तिम परिणति अगाधप्रियता में ही होती है। यह मानव का अपना दर्शन है; कारण, कि ‘यह’ की ममता करके जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, वह स्वाधीनता की लालसा के आधार पर नाश हो गई, जिसके होते ही पराधीनता मिट गई और ‘मैं’ स्वाधीन हूँ, यह बोध हो गया। पर जिसकी अहैतुकी कृपा से आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य मिली थी, उसको भूल जाना और उसके स्थान पर ‘मैं’ की ही स्थापना कर लेना, यह कहाँ तक युक्तियुक्त है? ‘है’ की उदारता के दुरुपयोग के अतिरिक्त इसे और क्या कहेंगे? कि जिसने स्वाधीनता प्रदान की, उसको भूल गए और ‘है’ के स्थान पर ‘मैं’ की स्थापना कर दी। ‘है’ की तो यह महिमा है कि वह सभी को सत्ता देता है और अपनाता है। इसी कारण ‘मैं’ को स्वीकार करने पर ‘मैं’ ही सत्य मालूम होता है और ‘यह’ को स्वीकार करने पर ‘यह’ सत्य मालूम होता है। जिससे ‘यह’ और ‘मैं’ की सत्यता प्रकाशित होती है, उसमें प्रियता ही ‘मैं’ की वास्तविकता है। परन्तु प्रियता स्वयं अपने ही में ‘है’ को विलीन कर ले, इससे ‘है’ में कोई क्षति नहीं

होती; क्योंकि ‘है’ स्वभाव से ही अनन्त है। परन्तु ‘है’ की प्रियता होकर ‘मैं’ का अन्त हो जाय, तो अनन्त रस की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जो मानव की वास्तविक माँग है।

यदि कोई यह स्वीकार करे कि ‘यह’ और ‘वह’ को अपने में विलीन करना है, अर्थात् ‘यह’ और ‘वह’ ‘मैं’ की ही अभिव्यक्ति है, तो इसमें भी ‘है’ को कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु ‘मैं’ और ‘यह’ की परिच्छिन्नता तो स्पष्ट ही विदित है। क्या परिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति अनन्त हो सकती है? कदापि नहीं। परिच्छिन्नता ‘है’ की ही एक अवस्था मात्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं; कारण, कि ‘है’ अपने और अपने से भिन्न के प्रकाशन में समर्थ है। पर-प्रकाश्य की अभिव्यक्ति स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकती। स्वयं-प्रकाश की एक अवस्था पर-प्रकाश्य भी हो सकती है। अतः ‘यह’ और ‘मैं’ को ‘है’ में विलीन करना अधिक युक्ति-युक्त तथा स्पष्ट है, जो एकमात्र विरक्ति तथा अनुरक्ति से ही साध्य है। विरक्ति ‘यह’ को ‘मैं’ से और अनुरक्ति ‘मैं’ को ‘है’ से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अगाधप्रियता ही ‘मैं’ की अन्तिम परिणति है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जगत् को ‘मैं’ की आवश्यकता नहीं है और ‘मैं’ को जगत् की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मानव विवेकपूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर यह सिद्ध नहीं कर सकता कि उसे जगत् की माँग है और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप में प्राप्त हैं, उसी की जगत् आवश्यकता अनुभव करता है। वस्तु आदि से रहित ‘मैं’ की आवश्यकता जगत् को नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि ‘मैं’ की जातीय एकता ‘वह’ के साथ और मानी हुई एकता जगत् के साथ है। यदि मानव जगत् से मिली हुई वस्तु को जगत् को भेंट कर दे, तो जगत् को फिर और कुछ नहीं चाहिए। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, रहित जो ‘मैं’ का भास

है, वह तो एकमात्र ‘वह’ जो देखा हुआ नहीं है, उसी की प्रीति है। इसी कारण अगाधप्रियता ही ‘मैं’ का स्वरूप है।

‘यह’ की ममता के कारण ‘मैं’ पराधीनता में आबद्ध होता है और निष्कामता, निर्ममता आदि के द्वारा ‘मैं’ पराधीनता-रहित होता है और ‘वह’ की आत्मीयता-पूर्वक ‘मैं’ अगाधप्रियता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि अभिन्नता उसी से होती है, जिससे स्वरूप की एकता हो; आसक्ति से अभिन्नता कभी नहीं होती। इससे यह स्पष्ट विदित है कि ‘यह’ से ‘मैं’ की केवल मानी हुई एकता है जो भूल-जनित है। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीनता की लालसा आसक्ति को विरक्ति में परिणत करती है, परन्तु केवल विरक्ति मात्र से संतुष्टि नहीं होती। इससे यह विदित होता है कि विरक्ति जब तक अनुरक्ति से अभिन्न नहीं होती, तब तक मानव कृत-कृत्य नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि अगाधप्रियता से ही ‘मैं’ की वास्तविक एकता है।

आसक्ति, परिच्छिन्नता और प्रियता के अतिरिक्त ‘मैं’ के सम्बन्ध में किसी की कोई अनुभूति ही नहीं है। ‘यह’ की ममता, कामना करके-‘मैं’ पराधीन हूँ, मुझमें अनेक आसक्तियाँ हैं-यही अनुभूति होती है। इस अनुभूति का कारण नाश होने पर, अर्थात् निर्ममता, निष्कामता अपना लेने पर-‘मैं पराधीन हूँ, मुझ में लोभ, मोह आदि विकार हैं,’-यह अनुभूति शेष नहीं रहती। पराधीनता आदि का आरोप अपने में एकमात्र भूल-जनित है। भूल-जनित प्रतीति को वास्तविकता नहीं कह सकते। अतः आसक्ति ‘मैं’ का वास्तविक परिचय नहीं है। निर्ममता, निष्कामता से उदित शान्ति, निर्विकारता तथा स्वाधीनता, यह साधनजनित अनुभूति है। साधन-जनित अनुभूति का महत्त्व उसी समय तक जीवित रहता है, जिस समय तक किसी न किसी अंश में असाधन है। जिस प्रकार काष्ठ का अत्यन्त अभाव होने पर प्रज्वलित अग्नि शेष नहीं रहती, उसी प्रकार असाधन का अत्यन्त अभाव होने पर साधन-जनित

निर्विकारता, समता, स्वाधीनता आदि की अनुभूति तथा भास शेष नहीं रहता, अर्थात् दोष का नाश और गुणों का अभिमान गल जाने पर एकमात्र अनन्त की प्रियता ही शेष रहती है, जो अनन्त से अभिन्न ही है। अतः ‘मैं’ की वास्तविकता का परिचय अगाध, अनन्त नितनव प्रियता से भिन्न नहीं है।

भोग में आबद्ध मानव मोक्ष के महत्त्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मुक्ति भुक्ति की पीड़ा से बचाने का उपाय है और कुछ नहीं। भुक्ति की सुख-लोलुपता पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध करती है। इस कारण सुख-लोलुपता त्याज्य है और मुक्ति मानव को शान्ति, स्वाधीनता आदि में आबद्ध करती है। अतः सुख-लोलुपता की दासता से रहित होने के लिए मुक्ति की महिमा है। वास्तव में तो मुक्ति प्रीति की जननी है; कारण, कि जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसका अपना व्यक्तिगत कुछ नहीं है, अर्थात् जिसकी शरीर आदि वस्तुओं में ममता नहीं है, वही अनन्त में आत्मीयता स्वीकार कर सकता है। आत्मीयता से ही अगाधप्रियता जाग्रत होती है, जो अनन्त को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से ‘मैं’ अनन्त की भोग्य सामग्री है और कुछ नहीं। किन्तु जब ‘मैं’ स्वयं अपने को भोग-वासनाओं में आबद्ध कर लेता है, तब पराधीनता की पीड़ा से रहित होने के लिए मोक्ष की आवश्यकता अनुभव करता है। मुमुक्षुता भोग-वासनाओं का अन्त कर पराधीनता से रहित करने में समर्थ है। पराधीनता का नाश होने पर ही ‘मैं’ अनन्त की भोग्य वस्तु ही रह जाता है, जो एकमात्र अगाधप्रियता से भिन्न कुछ नहीं है।

अपना अनुभव अपने लिए हितकर है। पर यदि उसका आदर न किया जाय, तो अपने विकास के लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु अन्त में वही स्वीकार करना पड़ता है, जो अपना अनुभव है। इस दृष्टि से मानवमात्र को मानव-दर्शन का आदर करना अनिवार्य है। अपनी दशा और अपनी माँग अपने से अपरिचित नहीं है। अपनी दशा पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है

कि प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नहीं, जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानव के बिना न रह सके। यह नियम है कि जिसके बिना अल्प से अल्प काल रह सकते हैं, उसके बिना सदैव रह सकते हैं। सदैव उसी के साथ रह सकते हैं, जो सदैव है। जो कभी है और कभी नहीं है, उसके साथ सदैव रहने का निर्णय अपने आप को धोखा देना है, अर्थात् अपने अनुभव का अनादर करना है, जो विनाश का मूल है। जो कभी है, कभी नहीं है, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं; किन्तु उसको अपना नहीं मान सकते। अतः प्राप्त वस्तुओं का ममता-रहित सद्व्यय और प्राणियों की सेवा सम्भव है और यही सृष्टि में रहने की सर्वोत्कृष्ट कला है। इस कला से मानव में यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह उनके बिना रह सकता है, जो उसके बिना रह सकते हैं। इस दर्शन के आधार पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्तिपूर्वक उस वास्तविकता का बोध होता है, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, अर्थात् जो उसका अपना है और अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। मानव अपने दर्शन का अनादर करने से ही अपने प्रिय से विमुख हो, अनेक प्रकार की नीरसताओं में आबद्ध हो जाता है। यह उसकी अपनी ही भूल का परिणाम है। दर्शन की परावधि भूल के अभाव में है।

‘मैं’ स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है, पर प्रमादवश असत् की ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव-जनित वेदना से पीड़ित मानव अपने जाने हुए असत् से विमुख होता है। विमुख होते ही सत्-पथ में प्रगति स्वतः होती है। इस राह में श्रम की गंध भी नहीं है और बे-साथी और बे-सामान के ही इस पथ में गमन होता है। यह कैसी अलौकिक बात है कि गति है, पर श्रम नहीं, अर्थात् श्रम-रहित होते ही ‘मैं’ स्वयं उस वास्तविकता से अभिन्न होता है, जिसमें अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से ‘मैं’ की कितनी

महिमा है। पर बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर, अपनी महिमा को भूल जाता है। इसके भूलते ही उसमें उत्पन्न हुई उन वस्तुओं की, जिनमें स्थायित्व की गन्ध भी नहीं है, अपितु सतत् परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है। राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियों में आबद्ध हो जाता है। पर वास्तविकता से जातीय एकता होने के कारण आपत्तियों में आबद्ध होने पर भी वास्तविकता की लालसा बीज रूप से विद्यमान रहती ही है। ज्यों-ज्यों आपत्ति-जनित पीड़ा सबल होती जाती है, त्यों-त्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वह माँग वर्तमान की माँग हो जाती है, तब असत् के संग का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही सत् का पथ स्वतः खुल जाता है और फिर वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

ममता तथा जिज्ञासा दोनों ही मानव में विद्यमान हैं और इन दोनों के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव का भास है। मानव-दर्शन ममता के नाश में समर्थ है। ममता का नाश होने पर जिज्ञासा की पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से ममता और जिज्ञासा, दोनों ही शेष नहीं रहतीं। ममता के नाश से निर्विकारता और जिज्ञासा-पूर्ति से निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति होती है। सन्देह-रहित निर्विकार जीवन की प्राप्ति मानवमात्र के लिये सम्भव है। उससे निराश होना अपनी ही भूल है। अपनी भूल से ही अपना विनाश है। इस कारण मानव-जीवन में भूल को बनाये रखने का कोई स्थान ही नहीं है। भूल का अन्त करने के लिये भूल को ‘भूल’ जान लेना अनिवार्य है, जो एकमात्र निज-अनुभव के आदर में ही निहित है। भूल का ज्ञान किसी अन्य के ज्ञान से नहीं होता, अपितु निज-ज्ञान से ही मानव अपनी भूल को जानता है। भूल का ज्ञान और उसका नाश युगपत् हैं।

शरीर आदि उत्पन्न हुई वस्तुओं में ममता भूल जनित है। पर यह भूल क्यों हुई? इस प्रश्न का उत्तर भूल का अन्त होने पर ही सम्भव है। जिसकी उत्पत्ति का अपने को ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा, जब उत्पत्ति अपने कारण में लीन हो जाय। अर्थात् उत्पत्ति का नाश होने पर ही उत्पत्ति के कारण का बोध होगा। अतः भूल का नाश होने पर ही, भूल क्यों उत्पन्न हुई, इसका बोध होगा। कार्य के रहते हुए कारण की स्वीकृति तो होती है, किन्तु कारण का परिचय नहीं होता। यही कारण है कि भूल के रहते हुए मानव यह अनुभव नहीं कर पाता कि भूल क्यों हुई। भूल को ‘भूल’ जानने के लिये ही किसी की अहैतुकी कृपा से मानव को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से वर्तमान वस्तुस्थिति को देखता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य वास्तविक नहीं हैं, अपितु भूल-जनित हैं। जो वास्तविक नहीं है, उसका त्याग तथा नाश सम्भव है। ममता तथा कामना का त्याग करने पर तादात्म्य स्वतः नाश होता है। तादात्म्य का नाश होते ही यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य और सीमित अहम्-भाव में आरोपित स्वीकृतियाँ ‘मैं’ नहीं है। जब प्रतीति और स्वीकृतियों से ‘मैं’ का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब ‘मैं’ एकमात्र किसी की माँग, किसी की खोज अथवा किसी की प्रियता के रूप में ही भासित होता है। दुःख-निवृत्ति, परमशान्ति एवं स्वाधीनता की माँग तथा वास्तविकता की खोज और जो ‘है’ उसी की प्रियता ‘मैं’ के स्वरूप में शेष रहती है। निर्ममता तथा निष्कामता से दुःख-निवृत्ति, शान्ति तथा स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है और तादात्म्य का नाश होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि असीम अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन है और अन्त में ‘मैं’ उसी ‘है’ की अगाधप्रियता है।

यह मानव-मात्र को विदित है कि सर्वप्रथम भास अहम् के रूप में ही होता है और फिर मम का। अहम् और मम, इन दोनों में

किसी-न-किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता अवश्य है। यदि ऐसा न होता, तो अहम् की प्रवृत्ति मम की ओर न होती; कारण, कि एकता तथा भिन्नता के बिना पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं होता। मम करके जिसे सम्बोधन करते हैं, उससे अहम् की किसी-न-किसी अंश में एकता अवश्य है। परन्तु मम की ओर गति होने पर परिणाम में अभाव ही अनुभव होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उस दृश्य का-जिसको अपना माना था, अथवा जिसकी कामना की थी-कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। प्रतीति हो, प्रवृत्ति हो; किन्तु प्राप्ति न हो, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पर फिर भी प्रतीति होती है। यदि अहम् अर्थात् अपने में मम की जाति की कोई भी वस्तु न होती, तो मम का आकर्षण ही न होता। मम का आकर्षण यह सिद्ध करता है कि अहम् में कोई-न-कोई तथ्य मम की जाति का है। इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जब मानव अपने को मिले हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, तब उसे अपने में देह-भाव भासित होता है। उसी भास के कारण प्रतीति का आकर्षण होता है। प्रवृत्ति के अन्त में अभाव-जनित अनुभूति प्रवृत्ति को निवृत्ति में परिणत कर देती है। सहज-निवृत्ति स्वतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहम्-बुद्धि नहीं रहने देती और जब यह स्पष्ट अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अहम् नहीं है, तब प्रतीति का आकर्षण नहीं रहता, अर्थात् निष्कामता उदित होती है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होने पर देहाभिमान स्वतः गल जाता है और फिर एकमात्र ‘यह’ से अतीत की खोज जाग्रत होती है, जो ‘उससे’, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, अभिन्न कर देती है।

मम का आकर्षण और वास्तविकता की खोज अहम् रूपी अणु में ही विद्यमान है। प्रतीति के आकर्षण का अन्त होते ही अहंता वास्तविकता की खोज होकर वास्तविकता से अभिन्न होती है।

अर्थात् प्रतीति की कामना मिटकर सत् की जिज्ञासा में परिणत होती है। सत् की जिज्ञासा स्वतः सत् से अभिन्न होती है। सत् की अभिन्नता सत् में प्रियता प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रतीति की ममता ही सत् की जिज्ञासा और सत् की जिज्ञासा ही सत् की अभिन्नता और सत् की अभिन्नता ही सत् की प्रियता में परिणत होती है। प्रतीति की ममता उसी समय तक जीवित रहती है, जिस समय तक मानव प्रवृत्ति के परिणाम से प्रभावित नहीं होता। प्रवृत्ति का आरम्भ काल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में तो अभाव ही शेष रहता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। समस्त प्रवृत्तियों का उद्गम अपने में देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक का अनादर ही अविवेक है। इस दृष्टि से अपनी भूल ही एकमात्र प्रवृत्तियों का स्रोत है। प्रवृत्तियों का परिणाम असह्य होने से अपने में स्वयं वास्तविकता की खोज जाग्रत होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविकता से भी ‘मैं’ की एकता है। प्रतीति से अहम् की भूल-जनित एकता है और वास्तविकता से वास्तविक एकता है। जिससे वास्तविक एकता है, उसमें आत्मीयता स्वतः सिद्ध है और जिससे भूल-जनित एकता है, उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। ममता के त्याग से आत्मीयता में सजीवता आती है। ममता के रहते हुए आत्मीयता सजीव नहीं होती, जिसके बिना हुए प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती। ममता-जनित आसक्ति पराधीनता में आबद्ध करती है और आत्मीयता से उदित प्रियता पराधीनता की तो कौन कहे, स्वाधीनता में भी रमण नहीं करने देती, अपितु जो ‘है’ उसके लिये रसरूप सिद्ध होती है। यह आत्मीयता की महिमा है। परन्तु जब तक ममता-जनित आसक्ति का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक आत्मीयता की महिमा का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से अहम् में से ममता का मिटा देना अनिवार्य है।

मम का अन्त होते ही अहम् स्वतः तत्त्व की जिज्ञासा तथा वास्तविकता की प्रियता में परिणत हो जाता है, अर्थात् अहम् और

मम मिटकर प्रेम और प्रेमास्पद ही शेष रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। प्रेमी-रहित प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। प्रेम का प्रादुर्भाव ही सर्वतोमुखी विकास है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेम ही प्रेमास्पद है। प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और मानव की माँग है। अहंता और ममता-जनित परिच्छिन्नता तथा आसक्ति का अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम किसी करण की अपेक्षा नहीं रखता, इस कारण प्रेम में पराधीनता नहीं है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर कुछ भी करना तथा पाना शेष नहीं रहता। इस कारण प्रेम की अभिव्यक्ति में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता है। पर प्रेम-तत्त्व विश्राम तथा स्वाधीनता में आबद्ध नहीं होता। जिस प्रकार फल की वाटिका का मूल्य चुकाने पर वाटिका की छाया, सुगंधि स्वतः प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। प्रेम प्रेमास्पद को रस प्रदान करता है और विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी होती है; किन्तु प्रेम के पुजारी में अपने लिए कुछ भी पाना नहीं रहता। इस कारण विश्राम, तथा स्वाधीनता स्वतः प्रेम से अभिन्न होती है। विश्राम तथा स्वाधीनता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है। प्रेम में ही प्रेमास्पद का नित्य वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

जब यह स्पष्ट विदित ही है कि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु एक गति है, जो प्रतीति के रूप में भासती है; तो प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही प्रतीति स्वयं उसमें विलीन होती है, जिसकी वह प्रतीति है। जब प्रतीति अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब अहम् स्वयं गति होकर उससे अभिन्न होता है, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है और उसके नाश में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रतीति का आकर्षण शेष नहीं रहता। प्रतीति का आकर्षण रहने पर

तो उसी की ओर गति रहती है, जिसका अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से प्रतीति के आकर्षण में ही अभाव की अनुभूति है। अभाव स्वभाव से किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। अभाव की भूमि में ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है, जो वास्तविकता से अभिन्न करने में समर्थ है।

‘नहीं’ को ‘नहीं’ अनुभव करने पर ही ‘है’ की माँग और असत् को ‘असत्’ जाने लेने पर ही सत् की जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं, जब देखे हुए का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, तब सुने हुए में आस्था होती है। बस, यही आस्तिक-दर्शन का उद्गम है।

यद्यपि आस्था की माँग मानवमात्र में स्वभाव-सिद्ध है, किन्तु इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के आधार पर मानव सृष्टि में आस्था स्वीकार करता है। परन्तु प्रवृत्तियों के परिणाम पर जब विचार करता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसकी ओर दौड़ते हों और न पकड़ पाते हों और अन्त में असमर्थता का अनुभव करते हों, वही संसार है। जिसकी प्राप्ति ही नहीं है, उसकी आस्था कुछ अर्थ नहीं रखती, अर्थात् सृष्टि की सत्ता को स्वीकार करना भ्रममूलक ही है। पर जब मानव दृश्य से विमुख हो, अपने ही में सन्तुष्ट होता है, तब वह अपनी आस्था स्वीकार करता है और फिर उसे समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था भासित होती है, अर्थात् जो सभी अवस्थाओं से अतीत है, वही सभी अवस्थाओं में है। पर अवस्था-जनित तादात्म्य परिच्छिन्नता में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। भेद भय को और भिन्नता संघर्ष को जन्म देती है, अर्थात् भिन्नता से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष में आबद्ध मानव पराधीनता एवं क्षोभ में आबद्ध रहता है। पराधीनता चिन्मय जीवन से और क्षोभ समता से अभिन्न नहीं होने देता। इस दृष्टि से राग-द्वेष युक्त वस्तु-स्थिति किसी को भी चैन से नहीं रहने देती। परन्तु भेद और भिन्नता के रहते हुए राग-द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता किसी को भी अभीष्ट

नहीं है, उसका अन्त करना अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश निराश्रय तथा अप्रयत्न के बिना सम्भव नहीं है। वस्तु, अवस्था आदि का आश्रय मिटने पर निष्कामता तथा निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है और फिर अप्रयत्न होने पर ही परिच्छिन्नता का नाश होता है। इस दृष्टि से अहम् से अतीत की आस्था ही वास्तविक आस्था है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब ‘यह’ और ‘मैं’ की वास्तविकता का बोध हो। इन दोनों में से किसी एक की वास्तविकता का परिचय होने पर दोनों ही का स्पष्ट बोध हो जाता है।

दृश्य का राग जिसमें है, वह ‘मैं’ दृश्य की ही जाति का है। राग-रहित होने पर समस्त दृश्य अपने अधिष्ठान से अभिन्न हो जाता है; कारण, कि राग के होते हुए दृष्टि दृश्य से विमुख नहीं होती और उसके बिना हुए दृष्टि अपने उद्गम में विलीन नहीं होती। जब दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है, तब उसकी गति उसकी ओर होती है, जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है, उसे कोई भले ही अहम् के रूप में अनुभव करे, किन्तु अहम् भी वास्तव में उसी की एक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से सभी में सत्ता रूप से वही है, जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में किसी प्रकार की एक देशीयता तथा परिच्छिन्नता नहीं हो सकती। उसमें एकदेशीयता तथा परिच्छिन्नता का आरोप करना कर्त्ता का ही चमत्कार है। वह वास्तविकता नहीं है। वास्तविकता का परिचय तो अहम् और मम के नाश में ही निहित है। राग-रहित भूमि में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है; कारण, कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय, प्रीति की जाग्रति राग-रहित होने से स्वतः होती है। अपने में अपना करके कुछ भी मानने पर कोई भी मानव किसी भी प्रकार राग-रहित नहीं हो सकता और उसके बिना हुए वास्तविकता का बोध नहीं होता। इस कारण राग का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र दृश्य के यथार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। दृश्य की वास्तविकता का परिचय दृश्य से विमुख होने पर ही

होता है। दृश्य की विमुखता एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

देखे हुए और किए हुए का प्रभाव जब तक अंकित है, तब तक स्वाभाविकता में प्रतिष्ठा नहीं होती और उसके बिना हुए वास्तविकता का परिचय नहीं होता, अर्थात् निस्सन्देहता नहीं आती। देखा हुआ मिला नहीं, किया हुआ रहा नहीं; किन्तु उसकी स्मृति-मात्र अंकित है। यदि कुछ काल के लिए देखना और करना बन्द कर दिया जाय, अर्थात् न देखने और न करने को अपना लिया जाये, तो भूतकाल से देखे हुए और किए हुए का जो प्रभाव अंकित है, वह स्वतः प्रकट होगा। उस दृश्य से संहयोग तथा तादात्म्य स्वीकार न करने पर उत्पन्न हुआ चिन्तन अपने आप मिट जायेगा और फिर स्वतः स्वाभाविकता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। जिसके होते ही वास्तविकता से अभिन्नता प्राप्त होती है और फिर मानव स्वतः निस्सन्देह हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किए हुए का परिणाम जो कुछ भी हो, पर वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह जीवन नहीं है, अर्थात् वह लक्ष्य नहीं है। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में ‘किया हुआ’ हेतु नहीं है। करने का सम्बन्ध परहित में भले ही हों पर उससे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। पर फिर भी मानव में करने का राग है। करने के राग-निवृत्ति मात्र के लिए ही करना है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब कर्म-सामग्री तथा कार्य-क्षेत्र में ममता न रहे और न फलासक्ति ही। निर्ममता तथा फलासक्ति-रहित प्रवृत्ति से ही सहज-निवृत्ति आती है, जो स्वाभाविकता से अभिन्न करने में समर्थ है। अस्वाभाविकता ने ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में मानव को आबद्ध किया है। इस कारण से अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र अचाह तथा अप्रयत्न से ही साध्य है। चाह-रहित होते ही स्वतः वर्तमान कार्य पूरा करने की सामर्थ्य आती है। चाह-युक्त मानव वर्तमान कार्य को विधिवत् नहीं कर पाता।

उसका परिणाम यह होता है कि कार्य करते रहने पर भी करने का राग नाश नहीं होता, जो अवनति का मूल है। करने का राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नहीं है। और अप्रयत्न हुए बिना सीमित अहम्-भाव का नाश नहीं होता; उसके बिना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। भेद तथा भिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से अभिन्नता नहीं होती। वास्तविकता से अभिन्नता बिना हुए वास्तविकता का बोध सम्भव नहीं है; कारण, कि प्रतीति से विमुख हुए बिना दृश्य की यथार्थता स्पष्ट नहीं होती और ‘है’ से अभिन्न हुए बिना ‘है’ का बोध नहीं होता। इस दृष्टि से ‘यह’ के परिचय में ही ‘मैं’ का परिचय और ‘यह’ और ‘मैं’ की वास्तविकता के अनुभव में ही ‘है’ की प्राप्ति, ‘है’ का बोध और ‘है’ की प्रियता निहित है।

अस्वाभाविकता सम्भव में असम्भव और असम्भव में सम्भव का भास कराती है। इस दृष्टि से अस्वाभाविकता के रहते हुए जो सम्भव है, उसमें आस्था नहीं होती और जो असम्भव है, उससे मानव निराश नहीं होता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि न तो अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर होता है और न सुने हुए में अविचल आस्था ही होती है और न जो कर सकते हैं और करना चाहिए, उसे कर ही पाते हैं। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र अस्वाभाविकता का अन्त करना अनिवार्य है। ‘है’ की प्राप्ति और ‘नहीं’ की निवृत्ति सम्भव है। ‘नहीं’ की प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं और जो ‘है’ उसकी प्राप्ति होती है, प्रतीति नहीं। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि दृश्य से विमुख हुए बिना नित्य-प्राप्त में आस्था ही नहीं होती। जिसमें आस्था नहीं होती, उसमें आत्मीयता नहीं होती, और जिससे आत्मीयता नहीं होती, उसकी प्रियता जाग्रत नहीं होती और प्रियता के बिना दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। दूरी के नाश में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति आत्मीयता से ही साध्य है।

दृश्य का राग, जो दृश्य से विमुख नहीं होने देता, किसमें

है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दृश्य का राग दृश्य में नहीं हो सकता और न दृश्य के प्रकाशक में। दृश्य का राग उसी में है, जिसने दृश्य में ममता और दृश्य की कामना स्वीकार की है। उसका नाम अहम् हो सकता है; कारण, कि अहम् के बिना मम और मम के बिना कामना उत्पन्न ही नहीं होती। इस दृष्टि से अहम् और मम की वास्तविकता का दर्शन किए बिना दृश्य से विमुख होना सम्भव नहीं है। जिसमें दृश्य की ममता तथा कामना है, उसी में जिज्ञासा भी है और उसी की कोई माँग भी है। ममता, कामना, जिज्ञासा और माँग जिसमें हैं, वही अपने को ‘मैं’ कह कर सम्बोधित करता है। ममता, कामना के नाश में ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य है और निस्सन्देह होने में ही अविचल आस्था तथा आत्मीयता है। आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त, नित, नव प्रियता की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ‘मैं’ वही है, जो दायित्व पूरा कर सकता है और जिसकी माँग पूरी होती है। ममता, कामना के त्याग का दायित्व उस पर है। दायित्व पूरा करते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है, अर्थात् काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति जिसको होती है, वही ‘मैं’ है।

अब यदि कोई यह कहे कि मुझे दृश्य का राग अभीष्ट नहीं है, अतः ममता, कामना, तादात्म्य के त्याग से निर्विकारता, परम-शान्ति, अपरिच्छिन्नता से अभिन्न होना है। क्या जिससे अभिन्न होना है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? यदि है, तो ‘मैं’ क्या उसकी प्रियता से भिन्न कुछ और है? प्रियता में अस्तित्व किसका होता है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रियता जिसकी है, उसमें अस्तित्व उसी का है। अपना अस्तित्व स्वीकार करके प्रियता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, अपितु जिसने निर्विकारता आदि से, अर्थात् अपनी माँग से भिन्न अपना अस्तित्व स्वीकार किया, उसमें आसक्ति हो सकती है, प्रियता नहीं। आसक्त आसक्ति से भिन्न भी

रहता है। किन्तु प्रियता जिसमें होती है, उसका अस्तित्व प्रियता नहीं है। आसक्ति और प्रियता में एक बड़ा भेद यह है कि आसक्ति उसको अपने से अभिन्न नहीं कर पाती, जिसमें आसक्ति है और जिसके प्रति आसक्ति होती है उसके काम नहीं आ पाती; कारण, कि आसक्ति भोग की जननी है। कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तु के काम नहीं आता, अपितु भोक्ता के द्वारा भोग्य वस्तु का विनाश ही होता है। किन्तु प्रियता जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस-रूप होती है और उसका विनाश नहीं करती, अपितु प्रियता अपने को ही प्रियतम से अभिन्न करती है। अतः आसक्ति और प्रियता का भेद स्पष्ट होने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि सर्वांश में आसक्ति का नाश होने पर भोक्ता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, अपितु जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसकी प्रियता रहती है। स्वतन्त्र तथा अविनाशी एवं अनन्त और चिन्मय की प्रियता भी उसी की जाति की है, पर उसका कोई अपना करके अस्तित्व नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि समस्त दृश्य की ममता, कामना एवं तादात्म्य के कारण मुझमें जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि दोषों की उत्पत्ति हो गई थी, पर जब विवेकपूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य का अन्त कर दिया, तब ‘मैं’ स्वयं निर्विकार, शान्त, स्वाधीन तथा अपरिच्छिन्न हो गया। अब विचार यह करना है कि यदि निर्विकारता, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता आदि तुम्हीं सब थे, तो तुमने ममता, कामना आदि विकारों को क्यों स्वीकार किया? क्या यह कभी सम्भव है कि कोई स्वाधीन होते हुए पराधीनता, चिन्मय होते हुए जड़ता, पूर्ण होते हुए अभाव, परमशान्त होते हुए अशान्ति और अपरिच्छिन्न होते हुए परिच्छिन्नता को अपनाये? कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसमें आसक्ति आदि दोष हैं, वह उसकी जाति का है, जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की थी। आसक्ति और आसक्त-पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतः आसक्ति और आसक्त, इन दोनों का ही अभाव है। यदि यह

स्वीकार न किया जाय, तो आसक्ति आदि दोषों की किसी को माँग नहीं होती। अतः स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का है, जिसकी माँग है। उसको स्वीकार न करने पर भी उसी की प्राप्ति है—यह उसकी महिमा है और जिनकी आसक्ति है, उनके अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं है—यह उनकी महिमा है। अतः आसक्ति का अन्त कर निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अपरिच्छिन्नता, अगाध प्रियता आदि से अभिन्न होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। ‘है’ को अस्वीकार करने पर भी उसकी निवृत्ति नहीं होती और ‘नहीं’ को स्वीकार करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं, उसी को ‘यह’, अर्थात् ‘नहीं’ करके सम्बोधन करते हैं। ‘नहीं’ की ममता और ‘है’ की माँग जिसमें है, उसी को ‘मैं’ करके सम्बोधन करते हैं। ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भासित नहीं होता। ममता आदि दोषों के रहते हुए ही अहम् का भास होता है। ‘यह’ कुछ नहीं, ‘मैं’ कुछ नहीं—यह मानव-दर्शन से सिद्ध है। अब यदि कोई कहे कि ‘यह’ कुछ नहीं, ‘मैं’ कुछ नहीं और इन दोनों से भिन्न ‘है’ भी कुछ नहीं। तो यह अहम् की आवाज है, अर्थात् उसकी आवाज है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ‘नहीं’ को ‘नहीं’ अनुभव करते ही, ‘है’ की प्राप्ति स्वतः होती है। ‘है’ का मानना तथा जानना उतना आवश्यक नहीं है। जितना प्राप्त करना। मानने और जानने की बात साधन-रूप चर्चा है, जो न मानने तथा न जानने पर भी ज्यों का त्यों है, उसी की प्राप्ति मानव को अभीष्ट है।

(—मानव सेवा संघ, वृन्दावन के ग्रन्थ “मानव-दर्शन” से साभार)

उपसंहार

‘नहीं’ की ममता और ‘है’ की माँग जिसमें है, उसी को ‘मैं’ करके सम्बोधन करते हैं। ममता की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर अहम् जैसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भासित नहीं होता। ममता आदि दोषों के रहते हुए ही अहम् का भास होता है। ‘यह’ कुछ नहीं, ‘मैं’ कुछ नहीं—यह मानव-दर्शन से सिद्ध है।

अब यदि कोई कहे कि ‘यह’ कुछ नहीं, ‘मैं’ कुछ नहीं और इन दोनों से भिन्न ‘है’ भी कुछ नहीं। तो यह अहम् की आवाज है, अर्थात् उसकी आवाज है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ‘नहीं’ को ‘नहीं’ अनुभव करते ही, ‘है’ की प्राप्ति स्वतः होती है।

विषयी का ‘मैं’ एकमात्र विषयों की आसक्ति के रूप में ही प्रतीत होता है, जिज्ञासु का ‘मैं’ अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का ‘मैं’ प्रेम हो जाता है। जो ‘मैं’ विषयों की आसक्ति के रूप में प्रतीत होता है, वह अभावरूप है; क्योंकि विषयासक्ति में जीवन नहीं है। जिज्ञासु का ‘मैं’ जिज्ञासाकाल में केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासा की पूर्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्त का ‘मैं’ आरम्भ में तो प्रभु का विश्वास और प्रभु के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है, पर अन्त में प्रभु का प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। इस दृष्टि से ‘मैं’ अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

इस दृष्टि से ‘मैं’ का अर्थ विश्व के साथ एकता अथवा अनन्त से अभिन्नता अथवा अनन्त की प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो ‘मैं’ का अर्थ कुछ नहीं, या सब कुछ है, या केवल प्रीति ही है।

(इसी पुस्तक के अंश)



मानव सेवा संघ के ग्यारह नियम

मानव वह है जिसमें मानवता है

'मानव' की व्याख्या : मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी निर्बलता एवं दोषों को देखने ओर उन्हें निवृत्त करने में समर्थ है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।

१. आत्म निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
२. की गई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना।
३. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
४. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
५. दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण तथा दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
६. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
७. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
८. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
९. शरीर-श्रमी, मन-संयमी, बुद्धि-विवेकवती, हृदय-अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
१०. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
११. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।